

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 6 अध्याय 10: वृत्र से युद्ध

3 October 2026



पाठ से पहले एक निवेदन

श्रीमद्भागवत महापुराण के ये अध्यायवार सार गीता प्रेस भागवत को मुख्य आधार मानकर तैयार किए गए हैं। ये भागवत के अध्ययन में सहायक हैं, मूल ग्रंथ का स्थान नहीं ले सकते।

अध्ययन का मुख्य और अनुशंसित मार्ग गीता प्रेस की भागवत पुस्तक से सीधा पाठ है। यात्रा में, घर से दूर, या जब पुस्तक पास न हो, तब निरंतर अध्ययन, पुनरावृत्ति और समझ के लिए इन सारों का सहारा लिया जा सकता है।



एक सन्त की स्वेच्छा से अर्पित अस्थियों से गढ़े गए और भगवान् की अपनी शक्ति से अभिमन्त्रित वज्र को धारण कर, इन्द्र ऐरावत पर सवार होकर पर्वताकार राक्षस वृत्र पर आक्रमण करते हैं, जबकि उनके युद्ध के आरम्भ पर स्वर्ग और पृथ्वी काँप उठते हैं।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्ञप्ति में आपका स्वागत है — श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं और शिक्षाओं की एक भक्तिपूर्ण यात्रा। भगवान् हरि से यह सुनकर कि केवल ऋषि दधीचि की अस्थियों से गढ़ा हुआ वज्र ही वृत्र को परास्त कर सकता है, इन्द्र अब उस महान् ऋषि से वह दान माँगने जाते हैं। जो आगे होता है वह पहले दान का एक मौन चमत्कार है — एक सन्त जो दूसरों के कल्याण के लिए अपना शरीर ही दे देता है

— और फिर पवित्र नर्मदा के तट पर देवताओं तथा राक्षस-सेना के बीच पहले महान् संग्राम का गर्जन।

अध्याय-परिचय

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 6 (षष्ठ स्कन्ध)
- अध्याय: 10 (दशम अध्याय)
- अध्याय-शीर्षक: देवताओं तथा वृत्रासुर का युद्ध
- मुख्य वक्ता: श्रीशुकदेव गोस्वामी, राजा परीक्षित को कथा सुनाते हुए
- मुख्य श्रोता: राजा परीक्षित; बाह्य कथा में नैमिषारण्य के ऋषिगण
- मुख्य स्थल: ऋषि दधीचि का आश्रम, तथा नर्मदा नदी के तट पर युद्धभूमि
- केन्द्रीय विषय: दधीचि का आत्मार्पण, वज्र का निर्माण, और वृत्र के साथ युद्ध का आरम्भ
- मुख्य श्लोक-परिधि: स्कन्ध 6, अध्याय 10, श्लोक 1-33
- मुख्य संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

दधीचि से की गई प्रार्थना

जब विश्व के रक्षक भगवान् श्रीहरि इन्द्र को उपदेश देकर उसी स्थल पर अन्तर्धान हो गए, तब देवगण, ठीक जैसा भगवान् ने परामर्श दिया था, उदार ऋषि दधीचि, अथर्वा के पुत्र, के पास गए और अपनी विनती रखी। प्रसन्न होकर, किन्तु मानो विनोद में, ऋषि ने उनसे एक गहन प्रश्न किया: क्या उन्हें यह ज्ञात है, उन्होंने पूछा, कि देहधारियों को मृत्यु के समय कितनी वेदना होती है, एक ऐसी पीड़ा जो उन्हें चेतना से भी वंचित कर देती है? शरीर, उन्होंने स्मरण कराया, जीने की इच्छा रखने वाले के लिए समस्त वस्तुओं में सबसे प्रिय है — तब भला कौन इसे स्वयं भगवान् विष्णु को भी, यदि वे माँगें, अर्पित करने का साहस करेगा? (श्लोक 1-4)

देवताओं ने उत्तर दिया कि उन जैसे महान् आत्माओं के लिए — जो प्रत्येक प्राणी पर दयालु हैं, जिनके कार्य सन्तों द्वारा प्रशंसित हैं — देने के लिए कुछ भी अति-कठिन नहीं है। स्वार्थी लोग, उन्होंने कहा, दाता के कष्ट को कभी नहीं तौलते; यदि वे उसे समझ लें, तो कभी न माँगें; और उदार आत्मा, माँग पूरी करने में समर्थ होकर, कभी “नहीं” नहीं कहती (श्लोक 5-6)।



भगवान् के परामर्श पर देवगण उदार ऋषि दधीचि के पास जाकर उनसे उनका शरीर ही माँगते हैं, और महान् ऋषि सहर्ष स्वीकार करते हैं (श्लोक 1-6)।

ऋषि अपना शरीर अर्पित करते हैं

तब ऋषि ने अपना हृदय प्रकट किया। उन्होंने ऐसा इसलिए कहा था, उन्होंने बताया, कि वे उनसे धर्म का सत्य सुन सकें; और अभी यहीं वे वह शरीर त्याग देंगे जिसकी वे इच्छा रखते हैं — वह शरीर जो वैसे भी एक दिन उन्हें छोड़ ही देगा। जो मनुष्य अपने इस नश्वर शरीर से न तो आध्यात्मिक पुण्य अर्जित करता है और न दूसरों पर दया से उपजा यश, वह वृक्षों और लताओं तक के द्वारा दया का पात्र है (श्लोक 7-8)।

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान् ।

ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥ ८ ॥

yo 'dhruveṇātmanā nāthā na dharmam na yaśaḥ pumān iheta bhūta-dayayā sa śocyāḥ sthāvarair api

अर्थ: जो मनुष्य इस अनित्य शरीर से न धर्म का आचरण करता है और न प्राणियों पर दया करके यश अर्जित करता है, वह स्थावर प्राणियों — वृक्षों तथा लताओं — तक के द्वारा दया का पात्र है। (स्कन्ध 6, अध्याय 10, श्लोक 8)

सन्तों का चिरस्थायी गुण, दधीचि ने आगे कहा, केवल इसी में है: कि मनुष्य अपने सहजीवी प्राणियों के शोक और आनन्द के साथ सहानुभूति में दुखी और प्रसन्न होता है। कितने खेद की बात है कि मनुष्य अपने धन, स्वजनों और शरीर से — जो स्वभाव से क्षणिक हैं और वस्तुतः दूसरों के ही हैं — दूसरों की सेवा नहीं करता (श्लोक 9-10)। इस प्रकार मन में निश्चय करके, ऋषि ने अपनी आत्मा को परम सत्य भगवान् में लीन कर दिया। अपनी इन्द्रियों, प्राण, मन और बुद्धि को वश में करके, अपनी दृष्टि परब्रह्म पर स्थिर करके और पुण्य तथा पाप के प्रत्येक बन्धन को छिन्न करके, वे परम योग में स्थित हो गए — इतने पूर्ण रूप से कि उन्हें यह भी ज्ञात न हुआ कि उनका शरीर कब गिरा (श्लोक 11-12)।

वज्र तथा युद्ध-प्रयाण

उस आत्म-समर्पित सन्त की अस्थियों से, स्वर्ग के शिल्पी विश्वकर्मा ने वज्र गढ़ा, और उसमें भगवान् की शक्ति प्रविष्ट हुई। उस अस्त्र को धारण कर इन्द्र अपरिमित बलशाली अनुभव करने लगे। देवताओं के समूहों से घिरे और ऋषि-मण्डलियों से स्तुत होकर, वे ऐरावत, गजराज, की पीठ पर ऐसे सुशोभित हुए मानो तीनों लोकों के आनन्द स्वरूप हों। वृत्र को, जो राक्षस-सेनाओं के सेनापतियों से घिरा था, काट गिराने के लिए वे क्रोध से भरकर आगे बढ़े — जैसे प्रलय के समय रुद्र मृत्यु पर टूट पड़ते हैं (श्लोक 13-15)।



आत्म-समर्पित सन्त की अस्थियों से विश्वकर्मा भगवान् की शक्ति से अभिमन्त्रित वज्र गढ़ते हैं, और इन्द्र उसे धारण करते हैं (श्लोक 13)।

वहाँ, पवित्र नर्मदा नदी के तट पर, वर्तमान मन्वन्तर के चार युगों के प्रथम चक्र में त्रेता के आरम्भ में, देवताओं तथा राक्षसों के बीच एक अत्यन्त घोर संग्राम हुआ। इन्द्र अपने निज तेज में देदीप्यमान खड़े थे, रुद्रों, वसुओं, आदित्यों, दोनों अश्विनीकुमारों, मरुतों और स्वर्ग के अनेक समूहों से घिरे। राक्षस — नमुचि, शम्बर, विप्रचित्ति, पुलोमा, वृषपर्वा और सहस्रों अन्य, स्वर्ण-आभूषणों से विभूषित — उनका दर्शन सहन न कर सके, और देवसेना के अग्रभाग पर गदाओं, मुद्गरों, बाणों, शूलों, परिधों, फरसों और तलवारों की झड़ी बरसा दी (श्लोक 16-23)।



पवित्र नर्मदा के तट पर देवताओं तथा राक्षसों की सेनाएँ टकराती हैं, और राक्षसों के फेंके प्रत्येक अस्त्र वायु में ही चूर हो जाते हैं (श्लोक 16-26)।

किन्तु देवगण कुशल धनुर्धर थे। वायु में ही सहस्रों टुकड़ों में छिन्न होकर, अस्त्रों का वह समूचा प्रलय देवसेना को छू तक न सका। जब राक्षसों ने तब पर्वत-शिखर, वृक्ष और शिलाएँ फेंकीं, तो देवताओं ने उन्हें भी पूर्ववत् चीर डाला। इन्द्र के योद्धाओं को प्रत्येक अस्त्र से अक्षत और उन पर फेंके पर्वतों से भी अनाहत पाकर, वृत्र के नेतृत्व वाले राक्षस विषाद से भर गए। देवताओं के विरुद्ध — जिन पर सर्वानन्दमय भगवान् प्रसन्न थे — उनके बारम्बार किए गए प्रयास पूर्णतः निष्फल हुए, ठीक जैसे दुष्टों के कठोर और द्वेषपूर्ण वचन उन्नत आत्माओं को क्षुब्ध नहीं कर पाते (श्लोक 16-26)।

वृत्र का साहस

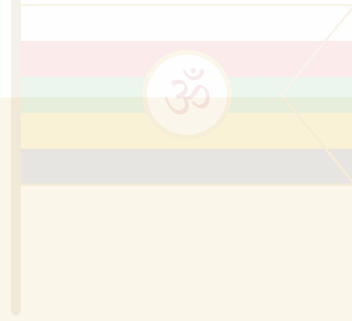
इसकी व्यर्थता देखकर, राक्षस — जिनके हृदय में श्रीहरि के प्रति कोई भक्ति न थी और जिनका गर्व चूर हो चुका था — मुड़कर भाग निकले, संग्राम के आरम्भ में ही अपने स्वामी को त्यागकर। किन्तु जब वृत्र ने अपने अनुयायियों को भय से बिखरते देखा, तो वह वीर और धीर नायक केवल हँसा, और उसने अवसर के अनुकूल तथा शूरवीरों को रोमांचित करने वाले वचन कहे। “अरे विप्रचित्ति, नमुचि, पुलोमा, माया, अनर्वा, शम्बर — मेरी सुनो,” उसने पुकारा। यह मृत्यु जिससे तुम इतना डरते हो, उसने उनसे कहा, प्रत्येक जन्म लेने वाले को, वह कहीं भी हो, अवश्य आती है; विधाता ने इससे बचने का कोई उपाय नहीं रचा। तब यदि इससे स्वर्ग और चिरस्थायी यश प्राप्त हो सके, तो भला कौन ऐसी वांछनीय मृत्यु का वरण न करेगा? (श्लोक 29-32)



अपनी भागती सेना से त्यक्त होकर, वीर वृत्र हँसता है और अपने साथियों को धर्म या शौर्य में जीती मृत्यु से न डरने की शिक्षा देता है (श्लोक 29-33)।

फिर उसने उन दो प्रकार की मृत्यु का नाम लिया जिन्हें शास्त्र अनुमोदित करते हैं और जो दुर्लभ हैं: उस योगी की मृत्यु जो अपने प्राणों और इन्द्रियों को वश में करके ब्रह्म में गहन लीनता द्वारा शरीर त्यागता है; और उस वीर की मृत्यु जो युद्ध के अग्रभाग में गिरता है, कभी शत्रु की ओर से पीठ न फेरते हुए (श्लोक 33)।

द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापौ
यद् ब्रह्मसन्धारणया जितासुः ।
कलेवरं योगरतो विजह्याद्
यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥ ३३ ॥



dvau sammatāv iha mṛtyū durāpau yad brahma-sandhāraṇayā jitāsuḥ kalevaram yoga-rato vijahyād yad agrāṇīr vīra-śaye 'nivr̥ttaḥ

अर्थ: शास्त्रों में दो प्रकार की मृत्यु प्रशंसित हैं और दुर्लभ हैं: वह योगी की मृत्यु जो प्राणों को जीतकर ब्रह्म में लीन होकर शरीर त्यागता है, और वह वीर की मृत्यु जो युद्ध के अग्रभाग में गिरता है और शत्रु की ओर से कभी पीठ नहीं फेरता। (स्कन्ध 6, अध्याय 10, श्लोक 33)

इस अध्याय की प्रमुख शिक्षाएँ

1. सच्चा सन्त दूसरों के लिए अपना शरीर तक दे देता है। दधीचि केवल सहायता नहीं देते; वे अपने प्राण ही अर्पित कर देते हैं जिससे देवगण उद्धार पा सकें, यह दर्शाते हुए कि सर्वोच्च दान आत्म-दान ही है (श्लोक 11-12)।
2. नश्वर शरीर पुण्य और दया के लिए है। ऋषि सिखाते हैं कि जो शरीर नष्ट होना ही है, वह केवल तभी मूल्यवान बनता है जब धर्म में और प्राणियों पर दया में व्यय हो (श्लोक 8-10)।

3. साधुता का मर्म सहानुभूति है। दूसरों के शोक और आनन्द के साथ दुखी और प्रसन्न होना — इसी को दधीचि सन्तों का चिरस्थायी गुण कहते हैं (श्लोक 9)।

4. भगवान् की रक्षा उनके जनों के विरुद्ध प्रयास को व्यर्थ कर देती है। राक्षसों का प्रत्येक अस्त्र उन देवताओं के विरुद्ध विफल होता है जिन पर भगवान् प्रसन्न हैं, जैसे द्वेष शान्त आत्मा को विचलित नहीं कर पाता (श्लोक 28)।

5. ठीक से सामना की गई मृत्यु द्वार है, आतंक नहीं। वृत्र मृत्यु की निश्चितता का सामना निर्भय होकर करता है, धर्म या शौर्य में जीती गई मृत्यु को स्वागत-योग्य मानते हुए (श्लोक 32-33)।

एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

इस अध्याय में दो प्रकार की महानता साथ-साथ खड़ी है, और दोनों मौन रूप से शिक्षाप्रद हैं। पहले वह ऋषि हैं जो, जब उनसे वह एक वस्तु माँगी जाती है जिससे प्राणी सबसे अधिक चिपका रहता है, उसे मुस्कुराते हुए सौंप देते हैं — इसलिए नहीं कि उनका शरीर उनके लिए तुच्छ है, अपितु इसलिए कि उन्होंने जान लिया है कि अपने लिए रखी गई नश्वर वस्तु व्यर्थ चली जाती है, जबकि वही वस्तु दूसरों के लिए दी जाने पर अविनाशी पुण्य बन जाती है। दधीचि मृत्यु के क्षण को ही पूजा में बदल देते हैं, शरीर गिरने से पहले ही अपना समूचा अस्तित्व भगवान् में समेट लेते हैं। फिर वृत्र है, जन्म से राक्षस, जो फिर भी अपनी सेना के ढहने और अपने अन्त की निकटता का सामना ऐसी स्थिरता से करता है जो उन भागते देवताओं को लज्जित कर देती है। वह जीवन से नहीं चिपकता; वह एक योग्य मृत्यु का स्वागत करता है। श्रीमद्भागवत इन दोनों को हमारे सम्मुख रखता है, जिससे हम अपनी उस थोड़ी-सी वस्तु पर अपनी पकड़ को माप सकें जो हमारे पास है — हमारा समय, हमारा बल, हमारा अपना अस्तित्व — और पूछ सकें कि क्या हम उसे संचित कर रहे हैं जो हमें केवल उधार दिया गया था, अथवा उसे, सन्त की भाँति, प्रेम में और दूसरों की सेवा में व्यय कर रहे हैं।

एक दैनिक भक्ति-अभ्यास

आज, एक ऐसी वस्तु चुनिए जिसे आप प्रायः रोक रखते हैं — अपना समय, अपना ध्यान, कोई कौशल, या अपने पास की किसी वस्तु का एक अंश — और उसे किसी दूसरे के कल्याण के लिए धन्यवाद या प्रतिफल की आशा के बिना स्वतन्त्रतापूर्वक दीजिए। ऐसा करते हुए, ऋषि दधीचि का स्मरण कीजिए, जिन्होंने अपनी अस्थिरता तक दे दी जिससे स्वर्ग की रक्षा हो, और अपने इस छोटे-से कर्म को भगवान् के चरणों में उनके पावन नाम सहित मौन रूप से अर्पित कीजिए। जो शरीर और जो दिन आपको दिया गया है, उसे थोड़ा ही सही, धर्म में और दया में व्यय होने दीजिए।

उपसंहार

षष्ठ स्कन्ध का दशम अध्याय एक ही उज्ज्वल आत्म-समर्पण के कार्य पर घूमता है: एक सन्त जो अपना शरीर देता है जिससे उद्धार का अस्त्र गढ़ा जा सके, और एक भगवान् जिनकी शक्ति ही उस अस्त्र को अजेय बनाती है। दधीचि के आश्रम से दृश्य नर्मदा की युद्धभूमि के गर्जन की ओर बढ़ता है, जहाँ राक्षसों का प्रत्येक अस्त्र उन देवताओं के समक्ष निरर्थक गिरता है जिनकी भगवान् रक्षा करते हैं, और जहाँ स्वयं राक्षस वृत्र अपने साथियों को एक योग्य मृत्यु से न डरने की शिक्षा देता है। जैसे-जैसे यह स्कन्ध वृत्र द्वारा इन्द्र को दिए उपदेश की ओर बढ़ता है, हम इस अध्याय का स्थिर पाठ साथ ले चलते हैं: कि जिसे हम अपने लिए पकड़ते हैं वह खो जाता है, और जिसे हम भगवान् तथा दूसरों को अर्पित करते हैं वह चिरस्थायी हो जाता है।

श्रीमद्भागवतम् की दिव्य विद्या हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति जगाए।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।

संदर्भ तथा साभार

- मुख्य संस्करण: गीता प्रेस, श्रीमद्भागवत महापुराण (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), षष्ठ स्कन्ध, दशम प्रवचन।
- शृंखला: Srimad Bhagavatam Wisdom · Biswa Sanatan Dharma Seva Trust।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, श्रद्धापूर्ण पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में और उनके अर्थ सारांश के रूप में दिए गए हैं। यह किसी एक प्रकाशक के निरन्तर अनुवाद या टीका का पुनरुत्पादन नहीं है। किसी प्रकाशक द्वारा संबद्धता या समर्थन का कोई अभिप्राय नहीं है।



ऑनलाइन पढ़ें: kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-canto-6-chapter-10-battle-with-vritrasura-hi.html

श्रीमद्भागवतम् विज़डम · कल्कि अवतार इंटरनेशनल · बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट